भी शुरू करे और चाहे उसके चिन्तन का 'विषय' कुछ भी हो। बात इतिहास की हो या गणित की, आत्मा की या जगत् की, धर्म की या कला की; मतलब बात किसी की भी हो दार्शनिक समस्या वही रूप लेती नज़र आती है और ऐसा लगता है जैसे दर्शन का विषय इन क्षेत्रों से विशेष रूप में सम्बन्धित न होकर किसी अन्य बात से है। ये तो उसके 'आलम्बन' मात्र हैं, जिनका सहारा लेकर वह वास्तव में 'अपने' क्षेत्र में प्रवेश करता है और वहाँ इनसे मुक्त होकर अपने सहज रूप में अवस्थित होने की चेष्टा करता है। यह बुद्धि का अपना क्षेत्र है-शुद्ध, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द। यहाँ बुद्धि किन्हीं लौकिक या पारलौकिक विषयों पर नहीं सोचती, न उसका धर्म की समस्याओं से सम्बन्ध है न रूप की, न ज्ञान की न कर्म की, न अनुभव की न अनुभवातीत की; वह तो इन सभी से अलग होकर, निस्संग होकर शुद्ध अपने स्वरूप में अवस्थित होकर अपने बारे में विचार करती है और इस विचार की, प्रक्रिया में जो समस्या उठती हो, उसको उठाने में और सुलझाने में सहज आनन्द लेती है। जितना उलझता है उतना ही उसे मज़ा आता है, क्योंकि वह उलझना उसे सुलझाने की ओर प्रवृत्त करता है और उसे यह पता है कि यह प्रक्रिया, अन्य जीवन्त प्रक्रियाओं की तरह अनन्त है, क्योंकि यहाँ प्रक्रिया में ही जीवन है। ऐसा अन्य क्षेत्रों में भी है, अगर कोई ज़िन्दगी पर ध्यान दे, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी पर, तो उसे वहाँ भी यही सत्य दिखाई देगा, क्योंकि 'संसार' का अर्थ ही यह है और संसार के हर क्षेत्र का अपना सत्व यही है। यह कोई बीमारी नहीं है, न कोई असाध्य रोग जिसका निदान खोजने की ज़रूरत है, ऐसा केवल उन्हें लगता है जो बुद्धि के अपने शुद्ध स्वरूप से परिचित नहीं हैं; जो केवल उसको अन्य पुरुषार्थों का आनुषंगिक मानते हैं, साधन मात्र। दर्शन की प्रक्रिया में या दार्शनिक चिन्तन में बुद्धि का साधन रूप में प्रयोग नहीं होता-वह तो यहाँ स्वयं अपना 'पुरुषार्थ' बन कर जो संसार रचती है, उसी में वह अपनी सिद्धि पाती है। यही उसकी लीला है और यही उसकी माया; जिसको ऐसा पसन्द नहीं है, जिसे इसमें सहज आनन्द नहीं आता वह और कुछ हो सकता है, दार्शनिक नहीं।

❑

चेतना, उपाय-कौशल और औचित्य विचार

चेतना का लक्षण प्राय: ज्ञान के सन्दर्भ में दिया जाता है, और ज्ञान की बात करते ही सत्य-असत्य का प्रश्न उठता है। यही नहीं, 'विषय-विषयी' का भेद भी इसी दृष्टि से उत्पन्न होता है और उसने दार्शनिक चिन्तन को इतना प्रभावित किया है कि चेतना को किसी अन्य रूप में देखना असम्भव सा ही प्रतीत होने लगा है। परन्तु 'चेतना' की बात कहते ही एक और बात भी उत्पन्न होती है और वह यह है कि मनुष्य की चेतना वैसी नहीं है, जैसी वह स्वयं को होना चाहेगी। मानवीय चेतना स्वयं में परिवर्तन चाहती है और यह भी सहज रूप में स्वीकार करती है कि इस परिवर्तन को लाने की शक्ति उसमें, स्वयं में है। वह ऐसा कहने की बराबर कोशिश करती है, हालांकि उसमें कभी कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती। फिर भी उसे ऐसा आभास सदैव होता है कि ऐसा करने से शायद ऐसा होगा।

उचित-अनुचित का भेद और 'कुछ करने से कुछ होगा' जिन्हें दार्शनिक भाषा में 'औचित्य विचार' और 'उपाय कौशल', का नाम दिया गया है, का मूल इसी आत्म चेतना में निहित है। पर, जो बात चेतना अपने स्वयं के बारे में पाती है, वही वह उन सभी 'विषयों' के बारे में भी महसूस करती है जो उसके सामने विषय रूप में उपस्थित होते हैं। औचित्य का प्रश्न सभी जगह उठता है और 'अनुचित' को उचित बनाने का प्रयत्न उस क्रिया को जन्म देता है, जिसके सफल-असफल होने के बारे में ही 'उपाय कौशल' की बात कही जाती है।

मनुष्य की चेतना का यह लक्षण, उसका स्वरूप लक्षण है, और इसीलिए यह उसमें इस प्रकार अन्तर्निहित है कि जहाँ भी वह है वह यह सदैव अनिवार्य रूप से होता है। यह सतत्, चिरंतन, कभी न समाप्त होने वाली प्रक्रिया मनुष्य को परिभाषित करती है और, इसीलिए, मनुष्य सदैव अपने से भी और जगत् से भी असन्तुष्ट रहता है।

भारतीय चिन्तन ने इस अवस्था को प्रवृत्ति-निवृत्ति का नाम दिया है, और यह कहने की कोशिश की है कि प्रवृत्ति मात्र ही दोषपूर्ण है और जब तक आदमी प्रवृत्ति से विमुख नहीं होगा इस 'असन्तोष' से उसकी मुक्ति नहीं होगी। मुक्ति का मार्ग, इसीलिए केवल निवृत्ति है, प्रवृत्ति से विमुख होना, दूसरी ओर लौटना जो

मनुष्य की सहज चेतना के विपरीत है। प्रवृत्ति से ही संसार उत्पन्न होता है, और संसार ही उस 'दु:ख' का दूसरा नाम है, जो इस बात से उत्पन्न होता है कि उसमें कोई स्थायित्व न है, और न हो सकता है।

लेकिन प्रवृत्ति-निवृत्ति का भेद भारतीय चिन्तन में इतना गहरा समा चुका है कि वह सहज-सत्य के रूप में सबको स्वत: सिद्ध प्रतीत होता है। पर प्रवृत्ति-निवृत्ति चेतना के ही अपने दो पक्ष हैं और अगर ध्यान से देखें तो उनमें उस प्रकार का भेद जो बाह्य-दृष्टि चेतना पर आरोपित करती है, वह उसमें नहीं दिखेगी। 'निवृत्ति' भी चेतना में उतनी ही निहित प्रतीत होती है, जितनी प्रवृत्ति और जिसे हम दोष कहते हैं या उचित-अनुचित का भेद मानते हैं, वह दोनों में एक-सा अनुभूत होता है। निवृत्ति कोई स्वरूपत: 'उचित' ही हो ऐसा न अपने को लगता है न दूसरों को। 'निर्वेद' कोई अच्छी बात नहीं है, बिरत होना, रस-विहीन होना कोई अच्छी बात नहीं है। शरीर को सुखाना, कष्ट देना, शरीर के साथ अन्याय करना है, ऐसा भगवान बुद्ध ने कहा था, हालांकि महावीर का मत ऐसा नहीं था। पर यही बात मन के बारे में भी है और बुद्धि के बारे में भी ओर उस संसार के बारे में भी है जो कल्पना रचित है और जो मनुष्य की अपनी कृति है। मनुष्य ने अनेक 'संसार' रचे हैं, उस संसार से भिन्न जो किसी और की रचना है और जिसके आधार पर ही मनुष्य अपने संसारों की रचना करता है। इन रचनाओं के सम्बन्ध में भी औचित्य विचार है, और उपाय कौशल भी और इससे भी गहरे स्तर पर उस चेतना की जो यह संसार रचती है और जिनसे स्वयं रचित होती है।

धारणा, ध्यान, समाधि की बात योग में कही गयी है पर किसी ने यह नहीं सोचा कि 'धारणा' में चेतना किसी अभीष्ट इष्ट पर केन्द्रित होने की चेष्टा करती है और 'ध्यान' इसी की एक और गहरी अवस्था है, जो स्वयं उस 'समाधि' में समाहित होती है, जिसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। 'अभीष्ट इष्ट' का प्रत्यक्ष चित्ररूप अपने सामने अवस्थित रूप ले सकता है, जो बाद में बाह्य प्रत्यक्ष के आलम्बन से मुक्त होकर अन्तर प्रत्यक्ष या मानस प्रत्यक्ष का रूप लेता है, इसी को धारणा कहते हैं। चेतना इस आलम्बन पर इतनी केन्द्रित होती है कि उससे वह मुश्किल से ही हटती है और जितनी वह हटती जाती है, उतनी ही वह ध्यान या सम्प्रज्ञात समाधि का रूप लेती है। यहाँ ध्यान देने की बात सिर्फ इतनी है कि मनुष्य की सृष्टि ही मनुष्य की चेतना में वह परिवर्तन लाती है, जो उसे सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रेय और श्रेय का समान रूप में समन्वित सम्मिश्रण प्रतीत होता है। इस प्रक्रिया में प्रवृत्ति निवृत्ति का भेद नहीं होता, केवल चेतना का व्यापार दृष्टिगोचर होता है। चेतना अपने स्वयं से उलझती है, सुलझती है और अपने को हजारों रूप में बनाने की चेष्टा करती है।। चेतना स्वयं कुछ निर्माण करती है और फिर उसी के द्वारा अपने में परिवर्तन करती है। यह प्रक्रिया अनन्त है; कम से कम मानव का इतिहास यही बताता है, हालांकि इसको मानने से वह खुद हमेशा इन्कार

करता है; जो लोग चेतना की बात करते हैं या जिनका विचार प्रधानत: चेतना केन्द्रित है, वे भी इस ऐतिहासिक पक्ष को अनदेखा करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि चाहे उपनिषदों की बात हो या बुद्ध की या चैतन्य की या तन्त्र की, सब काल में अवस्थित है और जो इनकी बात कहते हैं वे हमेशा यह कहते हैं कि बुद्ध कब हुए, उपनिषद् कब लिखे गये, तन्त्र का कब प्रादुर्भाव हुआ और चैतन्य किस सदी में प्रकट हुए।

अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी यह स्पष्ट है। ईसा से तो काल क्रम में विच्छेद सब मानते हैं और जो हिजरी सम्वत् की बात कहते हैं उनके साथ भी बात ऐसी है, उसके बाद की कहानी सब को पता है, फिर भी पता नहीं क्यों, करीब-करीब सब ऐसा ही कहते प्रतीत होते हैं कि कम से कम इस क्षेत्र में जो जाना जा सकता है, वह जाना जा चुका है। इस सन्दर्भ में वैदिक उपनिषदिक संस्कृति हो या बौद्ध-जैन संस्कृति हो, उसका ईसाई धर्म या इस्लाम से कोई विशेष भेद नहीं है। यही नहीं, यह तो सभी मानते हैं कि उपनिषद् वेदों के बाद हुए और बुद्ध महावीर के 'समकालीन' थे और महावीर उस परम्परा में थे जिसमें उनके पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जो इस प्रकार के ज्ञान की चिरन्तनता या 'त्रैकालिकता' की बात करते हैं वे स्वयं यह कहते हैं कि उपनिषदों में जो है, या जो महावीर या बुद्ध ने कहा है, वह उसके 'पहले' नहीं कहा गया था।

मनुष्य की चेतना के इस पक्ष की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, लेकिन हम अगर अध्यात्म के सतत् साधना-प्रयोग को छोड़कर, कला के उन विभिन्न क्षेत्रों की ओर ध्यान दें जिनका इतिहास और संस्कृति-वैषम्य आसानी से देखा जा सकता है, तो उसके द्वारा जो मनुष्य की चेतना में परिवर्तन हुआ है, वह शायद अधिक सहज रूप में स्वीकार्य होगा। यह मानने से कौन इन्कार करेगा कि ये सब आदमी का बनाया हुआ 'खेल' है। और इसको भी कौन अस्वीकार करेगा कि इस सब से चेतना गहरे रूप से प्रभावित होती है। सीखने-सिखाने, पढ़ने-पढ़ाने, समझने-समझाने की बात सब को पता है और यह भी कि शिक्षा का यही मूल है। चेतना में जब तक दृष्टि परिवर्तन न हो, अच्छे-बुरे का, सुन्दर-असुन्दर का, उचित-अनुचित का सहज-सतत्-परिष्कार-बोध न हो, तब तक शिक्षा का कोई अर्थ नहीं होता। बाहर के आँकड़े जमा करने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, न वह दृष्टि उत्पन्न हेती है, जो समग्र को भी देखती है और उस भेद को भी जिसके बगैर जो बना है, जो भ्रष्ट है, उसका अपना न कोई अस्तित्व रहता है न पहचान।

चेतना की बात कहते तो बहुत लोग हैं, पर सब ये भूल जाते हैं कि चेतना के केन्द्र अनेक हैं और इनके बीच के सम्बन्ध से ही वह संसार रचित होता है, जिसमें मनुष्य रहता है। उस संसार का वर्णन थोड़ा-बहुत साहित्य में होता है, पर साहित्य का सृष्टा उस कृतित्व की ओर ध्यान देता ही नहीं है जो इस संसार की

रचना के पीछे छिपा हुआ है। जिन लोगों ने चेतना के सहज और अनिवार्य कृतित्व पक्ष की ओर ध्यान दिया है, और जिन्होंने यह भी दिखाने की कोशिश की है कि मनुष्य की सृष्टि, काल के परिप्रेक्ष्य में मनुष्यों के सामूहिक सहयोग से बनती है, उन्होंने भी उस जगत् की बात नहीं की है जो मनुष्य एक-दूसरे के साथ मिलकर अनिवार्य रूप में हर क्षण बनाता है। हेगेल का चिन्तन इसका प्रखर उदाहरण है और यही बात उन सब अन्य लोगों के बारे में भी सही है, जिन्होंने संस्कृति, सभ्यता, समाज आदि की बात की है। हर क्षण आदमी यह महसूस करता है कि संसार ठीक नहीं है; कहीं कुछ कमी है, दोष है और उसके लिए वह जिम्मेदार दुनिया को ठहराता है या उस सब को जो अन्य हैं, उससे भिन्न हैं। कितनी आसानी से आदमी यह भूल जाता है कि अगर दूसरे उसके संसार के सृष्टा हैं, तो वह भी उनके संसार का सृष्टा है और वे अन्य भी वैसा ही सोचते हैं जैसा वह खुद सोचता है। शिकायतें हरेक के पास हैं और प्रत्येक यह मानकर चलता है कि उनका स्रोत कहीं और है, पर अगर वह औचित्य विचार की ओर ध्यान दे जो उसकी चेतना में ही सहज सन्निहित है, और उससे उत्पन्न उस उपाय-कौशल की बात सोचे जिसके द्वारा ही चेतना जो अनुचित है, उसका निराकरण कर सकती है और जो उचित है, उसकी सृष्टि, तो वह एक ऐसे नये संसार को सृष्ट करेगा जो उसके लिए ही नहीं दूसरों के लिए भी श्रेय ओर प्रेय दोनों ही होगा।

'औचित्य विचार' और 'उपाय-कौशल' मनुष्य की चेतना के दो ऐसे अंग हैं जो एक-दूसरे से सम्बन्धित भी हैं और एक-दूसरे के पूरक भी। औचित्य की बात करते ही मनुष्य अपने को उस स्थिति में कुछ परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार महसूस करता है और यही उसे उस कर्म की ओर प्रवृत्त करता है जिसके द्वारा वह यह सोचता है कि उस दिशा में कुछ परिवर्तन लाया जा सके, जिस ओर वह अपने औचित्य-विचार के सन्दर्भ में लाना चाहता है। इन्हीं दोनों पक्षों को परम्परा में 'प्रज्ञा' और 'प्रतिभा' का नाम दिया गया। उपाय-कौशल का मूल प्रतिभा में है जो कला में तो अभिव्यक्त होती ही है, लेकिन वास्तव में मनुष्य के हर कर्म और क्रिया में सहज रूप में अनिवार्य रूप से रूपायित होती दिखाई देती है। यही बात प्रज्ञा के सम्बन्ध में भी है। प्रज्ञा ही मनुष्य को सदैव यह बताती रहती है कि यह ठीक है या नहीं। इनकी बात सभी संस्कृतियों में किसी न किसी प्रकार से की गयी है और भारतीय चिन्तन में तो इन दोनों का प्राधान्य रहा है। लेकिन इनके सम्बन्ध की बात कम की गयी है। यही नहीं, प्रज्ञा का बुद्धि से क्या सम्बन्ध है, इस पर कोई विशेष चिन्तन किया गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यही नहीं, प्रज्ञा का बुद्धि से, बुद्धि का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का उनके विषयों से क्या और कैसे सम्बन्ध है, इस पर भी कोई गहरा विचार किया गया हो, ऐसा नहीं लगता। अगर किया जाता, तो प्रज्ञा किस प्रकार इन सबको अनुप्राणित करती है, उसकी चर्चा होती ही। चर्चा तो इस बात की है कि बुद्धि से लेकर

इन्द्रियों के विषयों तक जो भी व्यापार होता है वह सब प्रवृत्ति मात्र है, और इसीलिए अन्ततोगत्वा दोषयुक्त। प्रज्ञा की बात अगर होती भी है तो वह निवृत्ति के सन्दर्भ में, प्रवृत्ति से विमुख होने के लिए। श्री अरविन्द का दर्शन इसका एक अपवाद जरूर है, लेकिन उन्होंने प्रज्ञा को औचित्य-विचार से सम्बन्धित न करके, कुछ और प्रकार से देखा है। 'औचित्य' की बात करते ही वह इस तरह से सर्व-व्यापक हो जाते हैं कि उससे कुछ भी अछूता नहीं रहता-यहाँ तक कि चेतना स्वयं को भी उसी सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य में देखने लगती है। 'मैं' वैसी नहीं हूँ जैसा मुझे होना चाहिए।

प्रतिभा की बात साधारणत: कला के सन्दर्भ में की गयी है और वह भी साहित्य या अलंकार शास्त्र के सन्दर्भ में। इसकी बात पता नहीं क्यों अन्य कलाओं के सम्बन्ध में मुश्किल से ही दिखाई पड़ती है। इससे बड़ी ताज्जुब की बात क्या होगी कि शायद ही किसी ग्रन्थ में बुद्ध की मूर्तियों की या अजन्ता के भित्ति-चित्रों की या एलोरा के कैलाश मन्दिर की चर्चा हो। कभी-कभी ऐसा लगता है कि क्या ये लोग 'अन्धे' थे। भरत के नाट्य शास्त्र को ही लें, तो उन्होंने यह कह कर संतोष कर लिया प्रतीत होता है कि नाट्य में सब कलाओं का सहज रूप में समावेश होता है। परन्तु, यह समावेश किस प्रकार होता है, इसकी ओर शायद किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। समावेश तो होता है, पर उनकी अपनी स्वतन्त्रता खोकर। ये सब नाट्य की 'दास-दासियाँ' बनकर उसके रूप रस को संजोने, सजाने, संवारने-निखारने में ही अपना जीवन सफल मानती हैं। नृत्य को ही लें, भरत के नाट्य-शास्त्र में विशेष रूप से वर्णन है। मात्रकाऐं और उनसे रचित अंगहारों की चर्चा जिस रूप में वहाँ की गयी है, वैसी शायद कहीं और मिलनी मुश्किल है। शरीर के प्रत्येक अंग को जितने भी प्रकार से संचालित किया जा सकता है, वह सब उमसें वर्णित है, यही नहीं, उनके संयोजन से जो अंगहार बन सकते हैं और उनसे जो विशिष्ट भाव प्रकट किये जा सकते हैं, उनकी भी चर्चा है। लेकिन इस सब के बावजूद नृत्य को भरत के नाट्य-शास्त्र में नाट्य के सन्दर्भ में देखा गया है, और नाट्य को 'रस' के सन्दर्भ में। शायद यही कारण है कि भारतीय नृत्य परम्परा में अभिनय का इतना प्राधान्य है कि आज नृत्य की प्रधान 'विधा' का नाम ही भरत नाट्य है।

ऐसी ही कुछ बात संगीत, चित्र और मूर्तिकला में भी दिखाई देती है, हालांकि वह उतनी स्पष्ट नहीं प्रतीत होती है, जितनी नाट्य और नृत्य में। दूसरी ओर, ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना कठिन है कि हमें जो इन कलाओं के अवशेष आज प्राप्त होते हें, उनका इन कलाओं के आदि रूपों से क्या सम्बन्ध है जो भरत या भरत के बाद के समय में होता था। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि प्रत्येक कला में, वास्तु को छोड़कर, भारतीय प्रतिभा रस की सृष्टि में लगी है और चूँकि रस के चिन्तन में शृंगार को ही प्रधान रस माना है, इसलिए वह इस रस

से इतनी ओत-प्रोत है कि ऐसा लगता है कि इनके बनाने वालों के सामने और 'कुछ' था ही नहीं। संगीत में खयाल और खयाल की बन्दिशें कुछ और कहती दिखाई देती ही नहीं, और मिनिऐचर्स, चाहे वे कांगड़ा के हों, चाहे राजस्थान के, या कहीं और के, कुछ 'और' कहते दिखाई नहीं पड़ते। यही बात शालभंजिकाओं की है और उन अनेक मिथुनों की, जिनसे हमारे मन्दिरों के प्राचीर भरे पड़े हैं। कुछ पुराने भित्ति चित्र इसके अपवाद अवश्य हैं, अजन्ता या बाग के बारे में ऐसा कहना मुश्किल होगा और यही बात बुद्ध और महावीर की असंख्य मूर्तियों के बारे में है जो इस देश के कोने-कोने में मिलती हैं। ऐसा लगता है कि नाट्य शास्त्र का प्रभाव धीरे-धीरे फैला और काव्य से प्रारम्भ होकर उसने अन्य कलाओं पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया।

जो कुछ भी हो, यानि जो बात हमने कही है वह सच हो या नहीं हो, इतना जरूर सच है कि भारतीय 'प्रतिभा' कला के क्षेत्र में अपने को भरत के रस सिद्धान्त से मुक्त नहीं कर सकी, और न ही उसने विभिन्न कलाओं के अपने स्वतन्त्र रूप और वैशिष्ट्य की ओर ध्यान दिया है। यही नहीं, वह उस 'प्रज्ञा' से भी अनुप्राणित दिखाई नहीं देती, जिसकी भारतीय चिन्तन में इतनी अधिक चर्चा है, और जो बहुतों की राय में, उसको वो वैशिष्ट्य प्रदान करती है, जो उसे अन्य संस्कृतियों से उसकी पहचान अलग कराती है।

कई लोग ऐसा मानने में हिचकिचाते हैं, पर उनके सामने सदैव यह समस्या रहती है कि उस 'सब' का क्या करें जो स्पष्टत: उस प्रज्ञा की अनदेखी करता है, और इतना ही नहीं, विरोध भी।

शायद यह अन्तर्विरोध उस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, जिसकी ओर ध्यान देते ही ऐसी समस्या उत्पन्न होती है जिसका निराकरण भारतीय चेतना के लिए वह कठिनाई उत्पन्न करती है, जो उसे सहज रूप में स्वीकार्य हो ही नहीं सकता। भारतीय प्रतिभा, भारतीय प्रज्ञा में वह दोष दिखाती है जिसकी ओर ध्यान देते ही मनुष्य के सामने वह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका उत्तर भारतीय प्रज्ञा अभी तक नहीं दे पायी है। कला प्रवृत्ति मूलक है और भारतीय मनीषा ने जिस तरह प्रज्ञा को समझा है, वह निवृत्ति केन्द्रित ही नहीं है, बल्कि प्रवृत्ति मात्र को 'दोष' के रूप में देखती है। यही नहीं, उसे भव-चक्र का कारण, जन्म-मरण का कारण और बन्धन का कारण मानती है। उससे मुक्ति पाना है। मनुष्य का परम लक्ष्य और असली पुरुषार्थ है। प्रज्ञा शरीर, इन्द्रिय, मन, स्मृति, कल्पना, बुद्धि आदि के संघात को नकारती है, हेय मानती है, और अपनी दृष्टि किसी 'अन्य' पर केन्द्रित करती है, जिसे परम्परा में द्वन्दातीत, भेद से रहित कहा गया है। पर अगर प्रज्ञा वास्तव में यह है तो प्रतिभा उसका क्या करेगी। जहाँ न क्रिया है न कर्म, न कल्पना है न स्वप्न, वहाँ उपाय-कौशल की बात करना व्यर्थ है। यह ठीक है कि कृष्ण ने कहा था "योग: कर्मसु कौशलम्।" पर कृष्ण की

बात कौन मानता है, क्योंकि अगर वह बात मान ली जाये तो फिर शरीर और उसके साथ जुड़ी कर्मेन्द्रियाँ और उनके साथ मन और बुद्धि से अनुप्राणित औचित्य और प्रमाण-व्यापार अनिवार्यत: बँधे हैं। 'गीता' और महाभारत के कृष्ण के साथ जो 'अत्याचार' इस देश ने किया है वह अक्षम्य है, फिर चाहे वह अद्वैतवेदान्तियों ने किया हो या अन्य वेदान्तिकाचार्यों ने। भक्ति की बात कर्म के क्षेत्र से अलग है, चाहे उसकी बात स्वयं 'गीता' में ही क्यों न की गयी हो। कुरुक्षेत्र के मैदान में भक्ति की बात करना वृथा ही नहीं, मूर्खता भी है। सोचने की बात तो यह है कि कथा श्रीमद्भागवत की होती है, जिसका केन्द्र बिन्दु, पता नहीं किसने, शरद पूर्णिमा का "राशि-राशि वह रास",बना दिया। शायद, भरत का नाट्य शास्त्र श्रीमद्भागवत के ग्रन्थकार पर भी छा गया था।

अगर प्रज्ञा को औचित्य-विचार से सम्बन्धित करना है और ऐसा किये बिना, मनुष्य को 'मनुष्य' के रूप में समझना असम्भव है, और, अगर औचित्य को उपाय कौशल से जोड़ना जरूरी है, तो फिर प्रज्ञा को प्रतिभा के सन्दर्भ में ही 'परिभाषित' करना होगा और प्रतिभा को प्रज्ञा से। मनुष्य का कृतित्व, औचित्य के बगैर न सार्थकता पा सकता है, न अर्थवत्ता, और 'औचित्य' का अपने में कोई अर्थ ही नहीं रहता अगर वह उपाय-कौशल के द्वारा पंचमहाभूत की सृष्टि में प्राणवान्, जीवन्त रूप न धारण कर सके।

❑